INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL
ISSN NO : 2230-7850
IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF)
VOLUME - 14 | ISSUE - 1 | FEBRUARY - 2024

नीति–निदेशक सिद्धान्तों के प्रति न्यायपालिका का दृष्टिकोण का अध्ययन

डॉ. गायत्री मिश्रा
प्राध्यापक राजनीति विज्ञान,
शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
विजय कुमार साकेत
शोधार्थी राजनीति विज्ञानए
शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

सारांश –

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान का निर्माण किया गया और तत्कालीन राज्यों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे नीति–निदेशक सिद्धान्तों को उस समय क्रियान्वित कर सकें। इसीलिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने नीति–निदेशकों की प्रकृति को राज्यों के लिए बाध्यकारी नहीं बनाया। इस प्रकार संविधान का भाग 3 तथा भाग 4 सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना का महत्वपूर्ण साधन है। लेकिन मौलिक अधिकार जहाँ व्यक्तिगत न्याय की स्थापना के साधन हैं वहीं नीति–निदेशकों का लक्ष्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है।

मुख्य शब्द – नीति–निदेशक सिद्धान्त, न्यायपालिका, दृष्टिकोण, अध्ययन।

प्रस्तावना –

नीति–निदेशक सिद्धान्तों और मौलिक अधिकारों के सम्बन्धों के सन्दर्भ में न्यायपालिका का दृष्टिकोण सदैव परिवर्तित होता रहा है।[1]

मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराई राजन (1951) के मामले में उच्चतम न्यायालय में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठा कि मौलिक अधिकार और नीति–निदेशक सिद्धान्तों में विरोध की स्थिति में किसको प्राथमिकता दी जानी चाहिए? इस मामले में मद्रास सरकार ने भाग 4 के अनुच्छेद 46 को आधार बनाकर मेडिकल कालेज में प्रवेश की सीटों को आरक्षित कर दिया था ताकि समाज के सभी दुर्बल वर्गो के लिए शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जा सके। लेकिन मद्रास सरकार के उपरोक्त निर्णय को इस आधार पर चुनौती दी गयी कि भाग 3 के अनुच्छेद 15(1) का यह उल्लंघन करता है।[2] जिसमें स्पष्ट स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म–स्थान, या इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव या कोई विभेद नहीं करेगा।'

उपरोक्त याचिका को स्वीकार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा था कि राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्तों को, जिन्हें स्पष्टतया अनुच्छेद 37 के अनुसार न्याय योग्य नहीं बनाया गया है, संविधान के भाग 3 के प्रदत्त मौलिक अधिकारों की अपेक्षा वरीयता नहीं दी जा सकती है, क्योंकि अनुच्छेद 32 के अनुसार न्यायालय को

प्रलेख, आदेश तथा निर्देश द्वारा मूल अधिकारों को लागू करने और सुरक्षित रखने का अधिकार दिया गया है। मूल अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय पुनीत है, इसे कार्यपालिका अथवा विधायिका के किसी कृत्य या आदेश द्वारा भाग 3 में निर्धारित सीमाओं के अतिरिक्त सीमित नहीं किया जा सकता है। भाग 4 में वर्णित राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्तों को इसके अनुरूप होकर चलना होगा। हमारे विचार में संविधान के तृतीय और चतुर्थ भाग में दिए गये उपबन्धों के परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार समझे जाने चाहिए कि नीति–निदेशक सिद्धान्त, मूल अधिकारों के अनुरूप और उनके सहायक होंगे। अर्थात् मूल अधिकार, नीति–निदेशक सिद्धान्तों पर अभिभावी होंगे जबकि नीति–निदेशक सिद्धान्त भाग 3 में वर्णित मौलिक अधिकारों पर अभिभावी नहीं हो सकते। इस प्रकार मद्रास राज्य बनाम चंपाकम दोराई राजन मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार के उक्त निर्णय को असंवैधानिक घोषित कर दिया और इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया कि नीति–निदेशकों को मौलिक अधिकारों के समक्ष गौण स्थान प्राप्त है।

किन्तु एक ही वर्ष बाद जब उच्चतम न्यायालय को जमींदारी उन्मूलन से सम्बन्धित विधियों की संवैधानिकता पर विचार करने का अवसर मिला तो उच्चतम न्यायालय के उपर्युक्त दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।

बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह'[3] मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यद्यपि नीति–निदेशक सिद्धान्त न्याय योग्य नहीं है, तथापि राज्य उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। ये शासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

इस विचार की चरम परिणति दि केरल एजूकेशन बिल'[4] मामले में हुई। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि यद्यपि नीति–निदेशक सिद्धान्त मूल अधिकारों पर अभिभावी नहीं हो सकते हैं, तथापि मूल अधिकारों के विस्तार को निर्धारित करते समय न्यायालय नीति–निदेशक सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करेंगे। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि नीति–निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों में विरोध होने की दशा में सामंजस्यपूर्ण निर्वचन का सिद्धान्त अपनाया चाहिए, और जहाँ तक सम्भव हो, दोनों को प्रभाव देने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसी दृष्टिकोण के आधार पर न्यायालय ने पशु संरक्षण कानूनों, जिनके द्वारा गायों और बछड़ों तथा अन्य उपयोगी पशुओं के वध को प्रतिषेध किया गया था, को विधिमान्य घोषित किया क्योंकि इनका उद्देश्य नीति–निदेशक सिद्धान्त के अनुच्छेद 48 का कार्यान्वयन करना था।

नीति–नदेशक सिद्धान्तों के संदर्भ में विधायिका और न्यायपालिका के दृष्टिकोण में विभिन्नता रही है। विधायिका ने नीति–निदेशकों को क्रियान्वित करने के लिए यथासमय तमाम नीतियों का निर्माण किया है और न्यायपालिका ने संविधान के मूल ढांचे को आधार बनाकर विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों को असंवैधानिक घोषित किया है।

हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य (1959) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि संविधान की व्यापक व्याख्या होनी चाहिए तथा इसकी व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए कि भाग 4 में वर्णित नीति–निदेशक सिद्धान्तों को राज्य द्वारा अनिवार्य रूप से लागू करने का प्रयास किया जाना चाहिए। लेकिन साथ ही साथ ऐसा भी न हो कि इसकी विधियाँ मौलिक अधिकारों को समाप्त या सीमित कर दें अन्यथा भाग 3 में वर्णित मौलिक अधिकार, जिन्हें संविधान में संरक्षित उपबन्ध कहा जाता है केवल बालू की रस्सी हो जायेंगे।[5]

विश्लेषण –

संविधान लागू होने के आरम्भिक वर्षों में न्यायपालिका का दृष्टिकोण नीति–निदेशक सिद्धान्तों के प्रति सकारात्मक नहीं था क्योंकि कई बार ऐसे मामले आये जिसमें विधायिका ने निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के लिए कानून बनाये लेकिन न्यायालय ने उसे असंवैधानिक घोषित कर दिया। 1969 में बैंको का राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवीपर्सेज की समाप्ति के लिए बनाये गये कानून विधायिका द्वारा नीति–निदेशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन का प्रयास था। लेकिन न्यायपालिका ने उन्हें असंवैधानिक घोषित कर दिया जिससे न्यायपालिका और विधायिका के मध्य टकराव की स्थिति का जन्म हुआ तथा विधायिका ने न्यायपालिका पर यह आरोप लगाया कि वह समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में बाधक बन रही है। परिणामस्वरूप विधायिका द्वारा 25वां संविधान संशोधन विधेयक पारित किया गया, जिसमें अनुच्छेद 13 में खण्ड (4) को जोड़कर तथा अनुच्छेद 368 को संशोधित करके संसद को संविधान में संशोधन करने का असीमित अधिकार दे दिया गया। इस संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि विधायिका संविधान के किसी भी प्रावधान में संशोधन कर सकती है और यह भी स्पष्ट कर

दिया गया कि किसी भी संवैधानिक संशोधन को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वह संशोधन संविधान के भाग 3 में वर्णित नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1978) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने विधायिका की असीमित संशोधन शक्ति को पुनः इस आधार पर सीमित कर दिया कि विधायिका सांविधानिक संशोधन द्वारा संविधान के ढाँचे में परिवर्तन नहीं कर सकती है। अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मूल ढाँचे के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके विधायिका की संविधान संशोधन शक्ति को पुनः मर्यादित कर दिया गया।[6]

केशवानंद भारती मामले में न्यायमूर्ति के0एस0 हेगड़े और न्यायमूर्ति मुखर्जी ने यह कहा था कि ''मौलिक अधिकार तथा नीति–निदेशक सिद्धान्त भारतीय संविधान के अंतःकरण है। मूल अधिकारों का प्रयोजन एक समतावादी समाज का निर्माण करना और समाज के उत्पीड़न या बन्धनों से सब नागरिकों को मुक्त करना तथा सबके लिए स्वतन्त्रता उपलब्ध कराना है। निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोजन कुछ ऐसे सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को नियत करना है जो अहिंसक सामाजिक क्रान्ति द्वारा तत्काल प्राप्त किए जा सकते हों। मूल अधिकारों और नीति–निदेशक सिद्धान्तों के बीच किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।''[7]

रंजन द्विवेदी बनाम भारत संघ (1983) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यद्यपि नीति–निदेशक सिद्धान्त प्रथमतः विधान मण्डल और कार्यपालिका के लिए निर्देश हैं, किन्तु न्यायालय भी इस निर्देश से बाध्य है। इसलिए न्यायालयों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे संविधान का इस तरह निर्वचन करें ताकि नीति–निदेशक सिद्धान्तों को क्रियान्वित किया जा सके और इसमें निहित सामाजिक लक्ष्यों एवं व्यक्तिगत अधिकारों में सामन्जस्य स्थापित किया जा सके।[8]

उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य (1993) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने उपर्युक्त दृष्टिकोण को पुनः दोहराते हुए कहा कि ''मूल अधिकार और नीति–निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। भाग 3 के उपबन्धों का निर्वचन संविधान की उद्देशिका तथा राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्तों के संदर्भ में करना चाहिए।''[9]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नीति–निदेशक सिद्धान्तों के बारे में न्यायपालिका के दृष्टिकोण में आमूलचूल परिवर्तन आया है। चंपाकम दोरई राजन बनाम मद्रास राज्य मामले में जहाँ मौलिक अधिकारों को सर्वोच्च तथा नीति–निदेशक सिद्धान्तों को गौण स्थान प्रदान किया था, वहीं केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले में न्यायालय ने भाग 3 और भाग 4 दोनों को महत्वपूर्ण बताकर एक दूसरे का पूरक बताया, जिनमें कोई विरोध नहीं पाया जाता है। नीति–निदेशक सिद्धान्तों की महत्ता को और स्पष्ट करने के लिए संसद में 25वाँ और 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया।

25वाँ और 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम तथा नीति–निदेशक सिद्धान्त –

संविधान का 25वाँ संशोधन विधेयक अधिनियम, 1971 में संसद द्वारा पारित किया गया जिसमें नीति–निदेशक सिद्धान्तों के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया गया। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 में एक अनुच्छेद जोड़ा गया, जिसे अनुच्छेद 31 (ग) कहा गया, जो राज्य को अनुच्छेद 39 (ख) और 39 (ग) में उल्लिखित नीति–निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए विधायिका को विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 31 (ग) में कहा गया कि इन अनुच्छेदों (39 ख एवं ग) को क्रियान्वित करने के लिए बनायी गयी विधि इस आधार पर शून्य नहीं होगी कि वह अनुच्छेद 14 और 19 के द्वारा प्रत्याभूति मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है। इस प्रकार उपरोक्त संशोधन द्वारा अनुच्छेद 39 (ख) और 39 (ग) में दिये गये निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के ऊपर प्रभावी कर दिया गया।

संसद द्वारा किए गये संविधान के 25 वें संशोधन की संवैधानिक वैधता को *'केशवानंद* भारती बनाम भारत सरकार' मुकदमे में पहली बार चुनौती दी गयी। इस मामले में न्यायालय ने नीति–निदेशक सिद्धान्तों की प्रकृति और महत्त्व पर विशेष रूप से विचार किया। न्यायाधीश शैलट और ग्रोवर ने यह कहा कि ''हमारे संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों और नीति–निदेशक सिद्धान्तों के बीच किसी प्रकार के असामंजस्य की कल्पना नहीं की है, इनका उद्देश्य एक दूसरे की अनुपूर्ति करना है।''[10]

42वां संविधान संशोधन अधिनियम, (1976) द्वारा संसद ने अनुच्छेद 31 (ग) में पुनः संशोधन किया और

उसके विस्तार को और भी बढ़ाकर उसमें और नीति–निदेशक सिद्धान्तों को शामिल कर दिया गया। अनुच्छेद 31 (ग) द्वारा केवल दो नीति–निदेशक सिद्धान्तों [अनु0 39 के खण्ड (ख) और (ग)] को मूल अधिकारों पर प्रधानता प्राप्त थी, लेकिन 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भाग–4 में वर्णित सभी नीति–निदेशक सिद्धान्तों को भाग–3 के समस्त मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान कर दी गयी, इसके अनुसार नीति–निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनायी गयी किसी भी विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी सकती कि वह अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों से असंगत है, उसे छीनती है या न्यून करती है।

लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत संघ विवाद' में उच्चतम न्यायालय की पांच न्यायाधिपतियों की पूर्ण पीठ ने 4:1 के बहुमत से (न्यायाधिपति श्री भगवती का विसम्मत) संशोधित अनुच्छेद 31(ग) (जैसा कि 42वें संशोधन द्वारा संशोधित किया गया था) को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर दिया कि वह संविधान के ''मूल ढ़ाचे'' को नष्ट करता है। अनुच्छेद 31 (ग), समता (अनु. 14) और स्वाधीनताओं (अनु. 19) के मूल अधिकारों को नष्ट करता है जोकि स्वतन्त्र लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। 'विधि का शासन' और 'न्यायिक पुनर्विलोकन' संविधान के मूल ढाँचे के आवश्यक तत्व हैं जिसे अनुच्छेद 31 (ग) नष्ट करता है। न्यायालय ने कहा कि नीति–निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए मूल अधिकारों को समाप्त करना आवश्यक नहीं है। बहुमत का निर्णय संविधान में निहित मूल भावना के अनुरूप नहीं है। मूल अधिकार और नीति–निदेशक दोनों एक दूसरे के पूरक हैं वास्तव में, नीति–निदेशक सिद्धान्त वे लक्ष्य हैं, जिन्हें हमें प्राप्त करना है और मौलिक अधिकार वे साधन हैं जिनके माध्यम से उन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाना चाहिए। भाग–3 और भाग 4 के बीच संतुलन भारतीय संविधान की आधारशिला है। अतएव एक भाग को दूसरे भाग पर पूर्णरूप से प्राथमिकता देना इस संतुलन को नष्ट करता है जोकि संविधान के ''आधारभूत ढाँचे'' का आवश्यक अंग है। मूल अधिकार और नीति–निदेशक सिद्धान्तों को संविधान की ''आत्मा'' कहा गया है, दोनों में आपस में कोई विरोध नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।[11]

किन्तु 'संजीव कोक मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी बनाम भारत कोकिंग कोल लिमिटेड' के आधुनिकतम वाद में उच्चतम न्यायालय की पांच न्यायाधिपतियों की पीठ ने मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ के मामले में दिये गये अपने निर्णय की सत्यता पर संदेह व्यक्त किया और उक्त पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधि मान्यता का प्रश्न मिनर्वा मिल के मामले में प्रत्यक्षतः अन्तर्ग्रसित नहीं था। अतः इस प्रश्न पर न्यायालय का निर्णय अपेक्षित नहीं था और यदि निर्णय दिया भी गया तो उसका विधिक महत्त्व नहीं है, दूसरे चूंकि केशवानंद भारती के मामले में अनुच्छेद 31 (ग) को विधि मान्य घोषित किया गया था। अतः भाग 4 संशोधित रूप में भी विधिमान्य है।[12] संशोधित अनुच्छेद 31 (ग) द्वारा अन्य निदेशक सिद्धान्तों को सांविधानिक विमुक्ति प्रदान करने से संविधान का 'आधारभूत ढाँचा' नष्ट नहीं होता है।

माननीय न्यायाधिपतियों द्वारा अपने मत के लिए संजीव कोक मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी बनाम भारत कोकिंग कोल लिमिटेड मामले में जो तर्क प्रस्तुत किए गये थे, वे तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते हैं। प्रथमतः उनका तर्क कि भाग 4 की वैधता को मिनर्वा मिल के मामले में चुनौती नहीं दी गयी थी; केवल अधिवक्ता द्वारा इस प्रश्न को उठाया गया था, अतः न्यायालय द्वारा निर्णय देना उचित नहीं था– गलत है क्योंकि संविधान के उपबन्धों की विधि मान्यता का प्रश्न किसी भी मामले में उठाया जा सकता है और इस मामले में अधिवक्ता द्वारा उठाये गये प्रश्न पर न्यायालय ने गम्भीरता से विचार करके निर्णय दिया था। दूसरा मत यह था कि मूल अनुच्छेद 31 (ग) को केशवानन्द भारती मामले में विधि मान्य घोषित किया था; अतः अनुच्छेद 31 (ग) संशोधित रूप से भी विधिमान्य है– भी सही नहीं है। अनुच्छेद 31 (ग) संशोधित रूप में अस्तित्व में ही नहीं था जब केशवानन्द भारती मामले में उसको विधिमान्य घोषित किया गया था। उक्त निर्णय ने इस विषय की सारी विधि को अनिश्चित बना दिया, जो सुनिश्चित हो चुकी थी कि नीति–निदेशक सिद्धान्तों और मौलिक अधिकारों में कोई विरोध नहीं है; वरन् वे एक दूसरे के पूरक हैं। चूँकि न्यायालय ने मिनर्वा मिल के विनिश्चय में केशवानंद भारती के विनिश्चय को उलटा है। अतः वह भी अभी एक विधि के रूप में मौजूद है।

उक्त निर्णय से उत्पन्न भ्रम को उच्चतम न्यायालय की पांच न्यायमूर्तियों की संविधान पीठ ने 'तमिलनाडु राज्य बनाम एल0 आबु कबूर बाई' (1984) के मामले में दिए गये अपने निर्णय द्वारा दूर कर दिया। न्यायालय ने

यह अभिनिर्धारित किया है कि यद्यपि नीति–निदेशक सिद्धान्त प्रवर्तनीय नहीं है फिर भी न्यायालय को मूल अधिकारों और नीति–निदेशक सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित करने तथा समझौता करने का प्रयास करना चाहिए।[13]

संक्षेप में, मिनर्वा मिल निर्णय के पश्चात् मूल अधिकारों और नीति–निदेशक सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्धों में पुनः परिवर्तन आया। इस निर्णय द्वारा न्यायपालिका ने नीति–निदेशक सिद्धान्तों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदला और 42वें संविधान संशोधन के उस प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया, जिसने समस्त नीति–निदेशक सिद्धान्तों की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित की थी।

वर्तमान स्थिति यह है कि केवल एक नीति–निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 39 बी और 39 सी) मूल अधिकारों से प्रधान है, शेष सभी नीति–निदेशक सिद्धान्त पहले की तरह मूल अधिकारों के अधीन हैं। दूसरे शब्दों में केवल अनुच्छेद 39 बी और सी के अतिरिक्त किसी अन्य नीति–निदेशक सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए यदि विधानमण्डल कोई ऐसा कानून बनाता है, जिससे मूल अधिकारों का हनन होता है तो वह कानून न्यायपालिका द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। लेकिन अनुच्छेद 39बी और 39सी के उद्देश्यों को व्यवहारिक रूप देने के लिए बनाये गये किसी कानून को किसी मूल अधिकार के अतिक्रमण के आधार पर अवैध नहीं समझा जायेगा।[14]

नीति–निदेशक सिद्धान्तों के बारे में न्यायपालिका के दृष्टिकोण में निरन्तर बदलता रहा है। 'चंपाकम दोराई राजन बनाम मद्रास राज्य' (1951) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास राज्य द्वारा अनुच्छेद 46 को कार्यान्वित करने के लिए बनायी विधि को अवैध घोषित कर मौलिक अधिकार को प्रधानता प्रदान की। उसके बाद 1952 में 'बिहार राज्य बनाम कामेश्वर' मुकदमे में न्यायालय ने अनुच्छेद 39 को क्रियान्वित करने के लिए बनाये गये जमींदारी उन्मूलन अधिनियम को वैधता प्रदान करते हुए नीति–निदेशक सिद्धान्तों को शासन के मूल सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया तथा नीति–निदेशक सिद्धान्तों को महत्ता प्रदान की थी।[15]

निष्कर्षः

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विगत कुछ वर्षों में अपने अनेक निर्णयों में उच्चतम न्यायालय ने कुछ नीति–निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों का दर्जा प्रदान किया है। अर्थात् वे अब न्यायालयों द्वारा लागू किए जा सकते हैं। उन्नीकृष्णन मामले में अनुच्छेद 45 में निहित नीति–निदेशक सिद्धान्त को मूल अधिकारों का दर्जा दे दिया गया, जिसमें यह निर्णय दिया गया कि 14 वर्षों के बालकों को निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करने का मूल अधिकार है। इसी प्रकार 'रणधीर सिंह बनाम भारत संघ', (1982) मामले में समान कार्य के लिए समान वेतन, हुस्न आरा खातून के मामले में निःशुल्क विधिक सहायता तथा 'कन्ज्यूमर एजुकेशन रिसर्च सेंटर बनाम भारत संघ' मामले में कर्मकारों को चिकित्सा सुविधा पाने का अधिकार आदि नीति–निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकार का दर्जा दे दिया गया है। अब इन्हें न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित किया जा सकता है।

संदर्भ –

1 जोशी, जी.एन. – द न्यू कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 87
2 चंपाकम दोराई राजन बनाम मद्रास राज्य, 1951, एस.सी.आर. 525
3 बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह, ए.आई.आर. (1952), एस.सी. 352
4. दि केरल एजूकेशन बिल, ए.आई.आर., (1953), एस.सी. 936
5 मोहम्मद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य, (1958), एस.सी. 731
6 सईद, एस.एम. – भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, पृष्ठ 218
7 केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1978), एस.सी. 159
8 रंजन द्विवेदी बनाम भारत संघ, 1983, एस.सी. 624
9 उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य, 1993, एस.सी. 645
10 मारकण्डन, के.सी.–.डायरेक्टिव प्रिंसिपल आफ स्टेट पालिसी इन इण्डियन कांस्टीट्यूशन, ए.बी.एस. पब्लिकेशन, जालन्धर, 1987, पृष्ठ 32
11 मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ, 1980, ए.आई.आर.एस.सी., 1789

[12] पाण्डेय, जे.एन., भारत का संविधान, पृष्ठ 381
[13] तमिलनाडु राज्य बनाम आबु कबूर बाई, ए.आई.आर., 1984
[14] सईद, एस.एम. – भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, पृष्ठ 80
[15] पाण्डेय, जे.एन. – भारत का संविधान, पृष्ठ 378